

नारी और वैराग्य : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ० पुष्पा कुमारी*

विवेकानन्द, अरविन्द और गाँधी जिस ध्येय को लेकर चले उसका सामाजिक रूप यह है कि धर्म को चन्दन, कंठी, माला, पूजा, होम और मन्दिर तक ही सीमित रहना चाहिए। उसे समग्र जीवन को अपनी गोद में उठा लेना है। धर्म की स्थापना सन्यासी और जीवन की स्थापना गृहस्थ करें, यह उचित स्थिति नहीं है। आदर्श समाज वह होगा जिसके सन्यासी भी गृहस्थ और गृहस्थ भी सन्यासी होंगे अथवा दोनों के बीच कोई भेद नहीं रहेगा। धर्म की जीवन-व्यापी बनाने का यह उद्देश्य प्राचीन काल में ही झलका था जिसके प्रमाण जनक हुए हैं। मध्यकालीन भारत में भी वीर-शैव-सम्प्रदाय इसी उद्देश्य को लेकर चला था जिसका परिणाम यह हुआ कि सन्यास का आदर्श इस सम्प्रदाय के गृहस्थों का भी आदर्श हो गया।

गाँधी जी के प्रयोगों में धर्म को जीवन-व्यापी की साधना ने और भी प्रगति की। गाँधी जी वैरागी और गृहस्थ के गृहस्थ थे। रवि बाबू ने लिखा है कि गाँधी जी स्वयं वैरागी हैं, किन्तु गृहस्थों के आनन्द में वे बाधा डालना नहीं चाहते थे। वे स्वयं निर्धन और दरिद्र हैं, किन्तु सबको सुखी एवं सम्पन्न बनाने की दिशा में वे सबसे अधिक क्रियाशील हैं। वे घोर रूप से क्रान्तिकारी हैं, किन्तु क्रान्ति के पक्ष में वे जिन शक्तियों को जाग्रत करते हैं उन्हें अपने नियन्त्रण में भी रखते हैं। वे एक साथ प्रतिमापूजक और प्रतिभा भंजक भी हैं। मूर्तियों को यथास्थान रखते हुए वे आराधकों को उच्च स्तर पर ले जाकर उन्हें प्रतिमाओं के दर्शन करने की शिक्षा देते हैं। वे वर्णाश्रम के विश्वासी हैं, किन्तु जातिप्रथा को पूर्ण नाश करने के पक्षपाती हैं। काम-भावना को वे भी मनुष्य की नैतिक प्रगति का बाधक मानते हैं, किन्तु टॉलस्टाय की भांति वे सौन्दर्य और नारी को सन्देह से नहीं देखते। उनकी मान्यता है कि नारियों के लिए आदर और कोमलता का भाव पुरुष चरित्र का सर्वश्रेष्ठ गुण है। गाँधी जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जो सुधार वे दूसरों को सिखाते हैं उन सुधारों की कीमत पहले वे आप चुका देते हैं। गाँधी जी में सभी महान गुण हैं, किन्तु उनका व्यक्तित्व उनके गुणों से भी अधिक महान है।” किन्तु इतना होते हुए भी गाँधी जी की याद हमारे मनों में उन लोगों की याद जगा

*सहायक शिक्षिका उत्कर्मित मध्य वि०, नौवा, विश्वम्भरपुर (रोहतास)

देती है जो जीवन के आनन्द को मनुष्य का शत्रु समझते थे, जो नारी को तप-शक्ति की भक्षणी कहते थे और जो यह मानते थे कि शरीर की पुष्टि से आत्मा की दुर्बलता में वृद्धि होती है। उनका सारा दृष्टिकोण सदाचार-सेवी और पवित्रतावादी था तथा वे काव्य, संगीत, चित्र और मूर्ति कलाओं में से भी केवल उसे ही ग्रहण करते थे जो सुन्दर होने के अलावे शिव और सत्य भी था। केवल सौन्दर्य और आनन्द उनके दर्शन में ऊँचा तो क्या, उचित स्थान भी नहीं प्राप्त कर सके।

किन्तु यहां यह याद रखना होगा कि पवित्रतावाद और सदाचार-प्रियता गाँधी जी की बहक थी, बल्कि ये सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन से निकले थे। सत्य और अहिंसा उनके दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं, किन्तु सत्य और अहिंसा का पालन सभी लोग नहीं कर सकते। इनका सम्यक् पालन करने के लिए षड्विकारों का शमन आवश्यक है। षड्विकारों में भी गाँधी जी काम को अत्यन्त प्रबल मानते थे क्योंकि लोभ और क्रोध तब तक जीते नहीं जा सकते, जब तक कामवश में न आ जायें। उन्होंने लिखा है कि, “ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ जननेन्द्रियों की क्रियाओं का शारीरिक नियन्त्रण माना जाता है। किन्तु इस संकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को कुरूप तथा उसकी साधना को असम्भव बना डाला है। जब तक सभी इन्द्रियां नियन्त्रित न हो जायें तब तक जननेन्द्रियों को नियन्त्रित रखना दुस्साध्य कार्य है। इन्द्रियां तो परस्पर मिली हुई हैं एवं एक-दूसरे पर निर्भर भी हैं। अपने निचले धरातल पर मन भी इन्द्रिय ही है। मन पर अधिकार पाये बिना यदि हठयोग से अथवा और किसी प्रकार से जननेन्द्रिय पर अधिकार प्राप्त भी हो जाये तो उस नियन्त्रण को मैं अनुपयोगी और निस्सार कहूंगा। वायु का नियन्त्रण जितना कठिन है, मन का नियन्त्रण उससे भी कठिन है। किन्तु परमात्मा के प्रति आस्था रहने से मन भी बस में आ जाता है—

काम-विजय के लिए गाँधी जी ने जिह्वा विजय को सोपान कहा है।¹⁹ और जिह्वा पर नियन्त्रण कैसे किया जाये, इस उद्देश्य से परिचालित होकर वे जीवन भर भोजन के विषय में भिन्न-भिन्न प्रयोग करते रहे। प्रश्न उठता है कि क्या गाँधी जी का प्रयोग अथवा उनका विश्वास गलत था? क्या आनन्द की अपेक्षा, सचमुच ही, जीवन के साथ अत्याचार है? इन प्रश्नों का दो उत्तर दिया जा सकता है और दोनों भारतीय साधना के इतिहास में विद्यमान हैं। बौद्धों और जैनों ने सदियों तक ब्रह्मचर्य और कृच्छ्र साधना पर जोर दिया है किन्तु पांचवीं सदी के बाद उनके संयम का बांध टूट गया एवं बुद्धमार्ग से ही वज्रयान आदि सम्प्रदायों का जन्म हो गया। यह और कुछ नहीं ब्रह्मचर्य की सुदीर्घ साधना के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया थी कि साधु-महात्मा भी खुलकर नारी को अपनी मुद्रा मानने लगे एवं मैथुन को उन्होंने योग-सिद्धि का सोपान घोषित कर दिया। तब सहजयान आया। उसने भी यही सिद्धान्त रखा कि चितरत्न के क्षुब्ध होने से सिद्धि में बाधा पड़ती

है। अतएव इन्द्रियों के साथ जबर्दस्ती मत करो। यह सिद्धान्त बहुत-कुछ वैसा ही दिखता है जैसा कि आज के मनोवैज्ञानिक लोग कहते हैं।

किन्तु गांधी जी इस मार्ग को नहीं मानते। उनका भाव यह दिखता है कि यदि मनुष्य को धर्म के मार्ग पर आना है तो उसे इन्द्रिय-निग्रह करना ही होगा, क्योंकि इन्द्रियों से भिन्न मनुष्य कुछ है ही नहीं। इन्द्रियां खुलकर हरियाली चरती फिरे और मनुष्य का मन धर्म के मार्ग पर आरूढ़ रहे, यह कल्पना ही परस्पर-विरोधी है। मनुष्य के सामने दो से अधिक विकल्प नहीं हैं। या तो वह इन्द्रियों की दासता स्वीकार कर ले और जिधर-जिधर इन्द्रियां जाने को कहे, उधर-उधर भागता फिरे अथवा इन्द्रियों को वश में लाकर वह धर्म के पालन में तत्पर हो। इन्द्रियों की उल्लंघना पशु-धर्म है और जो भी व्यक्ति इन्द्रियों को अनियन्त्रित रखने का पक्षपाती है उसे यह भी मानना चाहिए कि मनुष्य पशु से भिन्न नहीं है, न पशु से अधिक दूर भागने की चेष्टा ही करनी चाहिए किन्तु जो लोग यह मानते हैं कि मनुष्य पशु से भिन्न प्राणी है उन्हें इन्द्रिय-निग्रह को माने बिना चारा नहीं है क्योंकि इन्द्रियों को नियंत्रण में रखकर ही मनुष्य पशुता से दूर जा सकता है। इन्द्रियों का उद्दाम नृत्य पशुता का प्रणाम है। **इन्द्रियों को धार में बांधकर चलाना ही मनुष्यता है, मनुष्य की संस्कृति है।**

नर-नारी का पारस्परिक सम्बन्ध सदा से विवाद का विषय रहा है। सच पूछिये तो नारी गृहस्थ दोनों के पद-मर्यादा में वृद्धि हुई है किन्तु अपने देश में तो वैदिक काल को छोड़कर प्रायः सदैव निवृत्ति का ही बोलबाला रहा। अतएव नारी की मर्यादा यहां सदैव दबी रही। समाज में प्रतिष्ठा उनकी थी जो वैयक्तिक मुक्ति के लिए वैराग्य ले लेते थे। नारी वैरागियों के किसी काम की चीज नहीं थी। अतएव सभी सन्त उसे पाप की खान बताते गये। बुद्ध और महावीर ने भिक्षुणी होने का अधिकार देकर नारियों को नरों के समकक्ष अवश्य माना, किन्तु जिस कारण नारी पाप की खान मानी जाती है उसका विलाप भी दोनों धर्मों में मिलता है। नारियों को भिक्षुणी होने का अधिकार देकर बुद्ध ने विलाप किया— “आनन्द! जो धर्म मैंने चलाया था, वह पांच सहस्र वर्ष तक चलने वाला था, किन्तु अब वह केवल पांच सौ वर्ष चलेगा क्योंकि नारियों को मैंने भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।” और हुआ भी यही। बुद्ध के पांच सौ वर्ष बाद ही महायान सम्प्रदाय निकला यद्यपि इसका दायित्व केवल भिक्षुणियों पर नहीं था और बौद्ध-मत धीरे-धीरे हिन्दुत्व के गोद में लौटने लगा।

ठीक इसी समय जैनों में दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ जिसके आचार्यों ने मुनि-धर्म में यह संशोधन उपस्थित कर दिया कि नारियों को भिक्षुणी होना व्यर्थ है क्योंकि पुरुष-योनि में जन्में बिना उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी। **कबीर**

आदि संतों ने विवाह करके यह दिखाना अवश्य चाहा था कि गृहस्थ-जीवन धर्म-साधना का बाधक नहीं है, न नारी धर्म की शत्रु है। किन्तु, निवृत्ति-भाव कबीर में भी था। विवाह करके अपना पाश्चात्य उन्होंने भी लिखा है।

इसके विपरीत पाश्चात्य जगत में जन्मे हुए उदार विचारों का यह परिणाम हुआ कि नारी अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने लगी और नारी के जागते ही पुरुष इस ग्लानि से भर गया कि सम्पूर्ण इतिहास में नारी पर अत्याचार ही करता आया है। स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ आर्थिक स्वाधीनता है। नारी जब तक यह स्वाधीनता प्राप्त नहीं करती, उसका यह दावा झुठा है कि वह स्वतन्त्र है किन्तु पुरुष यह नहीं चाहता है कि नारी आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो। पुरुष का कामुक संस्कार इस बात को बर्दास्त नहीं कर सकता कि नारियां खेतों में जायें, कारखाने में काम करें और इस प्रकार अपने रंग को मद्धिम एवं अपनी चमड़ी को खुरदुरी बना लें। इसलिए पुरुष कहता है, “मेरी महीने भर की कमाई तुम्हारे चरणों पर अर्पित है। तुम जिस तरह चाहो, खर्च करो। खेतों और कारखानों में जाने की तुम्हें आवश्यकता क्या है? और प्रत्येक देश में नारी इस उत्कोच को सहर्ष स्वीकार कर रही है। वह मग्न है यह प्रशस्ति सुनकर कि नारी रूप है, नारी सुधा और चांदनी है, नारी पुरुष के गले में मदार की माला है, उसके बाहों में झूलती हुई जूही की लड़ी है।

कवियों और दार्शनिकों ने भी नारी को एक उत्कोच यह कहकर दिया है कि वह पुरुष की प्रेरणा की उत्स है, नारी का प्रेम पाकर मनुष्य बड़े-बड़े काम कर डालता है। वह नारी समस्या का समाधान नहीं है। नारियां यह सुनकर प्रसन्न क्यों होती हैं कि वे पुरुषों की प्रेरणास्रोत हैं, उनकी शक्ति और प्रताप के केन्द्र हैं? क्या नारियों का सारा जीवन केवल पुरुषों को प्रेरित करने के लिए है? क्या उनका अपना कोई ध्येय नहीं हो सकता? क्या नरों के समान नारियों को अपने व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास नहीं करना है? और यदि उनका जन्म पुरुष में प्रेरणा भरने को है तो क्या वे आत्म-विकास के लिए पुरुषों से वैसे ही प्रेरणा पाने का दावा नहीं कर सकती? ये प्रश्न हैं, जिनका समाधान नारियों को खोजना चाहिए किन्तु सदियों के कुसंस्कारों के कारण नारियों का ध्यान इस ओर नहीं जा रहा है। हालांकि अब नारियां अपने अधिकारों के प्रति दिन-पर-दिन जागरूक हो रही हैं— इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

किन्तु आज के पहले युद्ध रोकने रोकने और वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के कामों में नारियों की दिलचस्पी नहीं दिखती थी। वे पुरुष-प्रदर्शनी आयोजित करती थीं और बन-बनकर समाज में सुरभि बिखेर कर अपने अस्तित्व की सार्थकता को समाप्त मान लेती थीं।

हमारा विचार है कि नर-नारी के सम्बन्धों पर जैसा निश्चित निदान गाँधी जी और मार्क्स ने दिया है वैसा और कोई विचारक नहीं दे सका। ये दोनों नेता नर-नारी को सहज एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और यह मानते हैं कि जिस क्षेत्र में एक की विजय है, उसमें दूसरे को भी विजय मिल सकती है। खेत और कल-कारखानें, ये दोनों के क्षेत्र हैं। ज्ञान और विज्ञान, इन पर भी दोनों का समान अधिकार है। प्रकृति ने नर और नारी की रचना एक ही तत्व से की है, अतएव, एक के लिए जो सहज और सम्भाव्य है, वह दूसरे के लिए भी असम्भव नहीं हो सकता। हां, मातृत्व एक ऐसा गुण अवश्य है जिसके कारण नारी नर से भी श्रेष्ठ हो जाती है।

गाँधी और मार्क्स में फर्क यह है कि भौतिकवादी होने के कारण मार्क्स को अपने समाधान पर पहुंचने में कठिनाई नहीं हुई। नर-नारी के बीच जिन कारणों से प्राचीन सन्त और सुधारक भय की स्थिति देखते थे, उन कारणों को मार्क्सवादी मानते ही नहीं। इसलिए विवाह उनकी दृष्टि में अनिवार्य संस्था नहीं है, न ब्रह्मचर्य, पतिव्रता अथवा एक पत्नीव्रत को ही वे जीवन का कोई दुर्लभ गुण मानते हैं।¹ और स्पष्ट ही इन परम्परागत मूल्यों से यदि हम आंखें मूंद लें तो मार्क्सवादी समाधान नर-नारी समस्या का पूरा समाधान है।

किन्तु, गाँधी इन मूल्यों से आंखें नहीं मूंद सकते। यदि वे आंखें मूंद लें तो उनका सारा दर्शन, पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की उनकी सारी कल्पना क्षण में ढह पड़ेगी। मनुष्य के सुधार का मार्ग सत्य और अहिंसा का मार्ग है और सत्य एवं अहिंसा का सम्यक् पालन काम को नियंत्रित किये बिना नहीं हो सकता। गाँधी जी के भीतर प्राचीन परम्परा के सन्त और आधुनिक विचारक दोनों विद्यमान हैं। विचारक का कहना है कि नर और नारी के सम्बन्ध को स्वाभाविकता प्रदान करो। सन्त को भय है कि स्वाभाविकता के प्रचलित अर्थ से तो दोनों काम के दास हो जायेंगे और दोनों में सत्य एवं अहिंसा की भावना दुर्बल पड़ जायेगी। इसलिए गाँधी मध्य मार्ग पर आते हैं। उनका कहना है कि नर और नारी दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे से स्वतन्त्र है और दोनों अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करने को जन्म लेते हैं। यदि रूप, सौन्दर्य तथा आधिभौतिक सुखों के लोभ में आकर वे एक-दूसरे से मिलते हैं तो यह ऊँचा मिलन नहीं है।² व्याकुलता तो दोनों में आत्म विकास के लिए ही होनी चाहिए जिसका समाज-सेवा और स्वार्थ-त्याग है। हाँ, विचारों में एकता अथवा उद्देश्य में समानता होने के कारण वे एक-दूसरे के समीप आना चाहें तो विवाह भी कर सकते हैं। किन्तु विवाह के उपरान्त बाल-बच्चे उत्पन्न करना कोई ऊँचा ध्येय नहीं है। एक तो इससे जनसंख्या में अनुचित वृद्धि होती है, दूसरे बाल-बच्चे की वृद्धि से समाज-सेवा की सेवा की योग्यता न्यून पड़ जाती है। अतएव नर-नारी को या तो विवाह ही नहीं करना चाहिए अथवा करना

अनिवार्य हो तो दोनों का आनन्द बौद्धिक मिलन अथवा आध्यात्मिक समीपता का आनन्द होना चाहिए। बस, इतनी सी शर्त लगाकर गाँधी जी नर-नारी को स्वतन्त्र छोड़ देते हैं और उन्हें परस्पर समकक्ष भी मानते हैं।

गाँधी जी प्रत्येक कर्म का मूल्य इस कसौटी पर आंकते हैं कि उससे मुक्ति में सहायता मिलती है या नहीं। विवाह मुक्ति में सहायक नहीं है इसलिए वे विवाह को अनावश्यक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मुक्ति से दूर रहने के कारण मनुष्य का पुनर्जन्म होता है तथा मुक्ति से और अधिक दूर रहने के कारण वह विवाह करता है। नर-नारी दोनों समान हैं और दोनों को चाहिए कि अपने मोक्ष के लिए साधना करें। बहुत प्राचीन काल से लोग जो यह कहते आये थे कि नर और नारी परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, उस सिद्धान्त का गाँधी जी और मार्क्स दोनों ने प्रयोगों द्वारा खण्डन कर दिया है।

नर और नारी विषयक गाँधी जी की धारणा ठीक उसी तरह कोरी कल्पना है जिस प्रकार गाँधी जी का राम राज्य की कल्पना अथवा प्लेटो का आदर्श राज्य की कल्पना जिसमें प्लेटो ने समाज का वर्गीकरण करते हुए औरतों के साम्ययीकरण की बात कह डाली। गाँधी जी जब नारियों के सम्बन्ध में मुक्ति की बात करते हुए विवाह को अनावश्यक अडंगा मानते हैं तो गाँधी जी स्वयं इसके मरीज क्यों हो गये? गाँधी जी को बचपन में ही इसका भान हो जाना चाहिए था कि शादी-विवाह जीवन की गाड़ी को मोक्ष तक नहीं पहुंचायेगी और उनको प्रवृत्ति मार्ग के बजाय निवृत्ति मार्ग ग्रहण कर लेना चाहिये था। जो स्वयं विवाह के बंधन से मुक्त नहीं हो पाया, वह दूसरों को मोक्ष की प्राप्ति के लिए ऐसी शिक्षा या उपदेश देने का कैसे अधिकारी हो सकता है? जब महात्मा बुद्ध और महात्मा महावीर निवृत्ति मार्ग को अपनाये तो भिक्षुणियों को संघ में शामिल करने पर उन्हें कोई परहेज नहीं हुआ। तब गाँधी ऐसा कठोर शर्त कैसे लगा देते हैं— इसमें संशय के साथ ही आश्चर्य भी होता है।

सन्दर्भ—

1. हरिजन, 21 जुलाई, 1946
2. नवजीवन, 5 जून, 1924
3. बोस, सेलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी, पृ0— 23
4. नवजीवन, 5 जून, 1924
5. मार्क्स, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, पृ0— 81
6. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, 2004, पृ0—544
7. वही, पृ0— 546

